Parsvanatha in Standing aspect behind is a coiled Serpent with 7 hoods. - Nolamba - Pallava 10-11 A.D

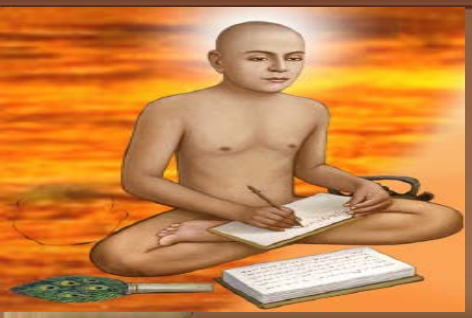

छहढाला

अध्यात्मप्रेमी कविवर पण्डित दौलतरामजी कृत

छन्द - १

वैराग्यजननी बारह भावनाओं के चिन्तवन की प्रेरणा देते हुए, कविवर पण्डित दौलतरामजी कहते हैं –

मुनि सकलव्रती बडभागी, भव-भोगन तें वैरागी।
वैराग उपावन माही, चिंतवौ अनुप्रेक्षा भाई॥

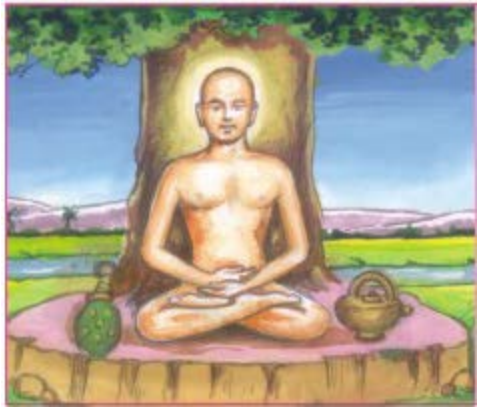

भावार्थ - पाँच महाव्रतों को धारण करनेवाले भावलिङ्गी मुनिराज महा पुरुषार्थवान हैं, क्योंकि वे संसार, शरीर और भोगों से अत्यन्त विरक्त होते हैं। जिस प्रकार माता, पुत्र को जन्म देती है; उसी प्रकार ये बारह भावनाएँ वैराग्य उत्पन्न करती हैं; इसलिए हे भाई! वैराग्य की उत्पत्ति में जननी समान इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करो।

छन्द - २

दृष्टान्तपूर्वक बारह भावनाओं के चिन्तन का फल

इम चिन्तत समरस जागै, जिमि ज्वलन पवन के लागै।
जब ही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिवसुख ठानै॥

भावार्थ – जिस प्रकार वायु लगने से अग्नि एकदम भभक उठती है; उसी प्रकार इन बारह भावनाओं का बारम्बार चिन्तवन करने से समरस अर्थात् वीतरागभाव प्रगट हो जाता है – बढ़ता जाता है। जब यह जीव, आत्मस्वरूप को जानता है, तब पुरुषार्थ बढ़ाकर परपदार्थों से सम्बन्ध छोड़कर, परमानन्दमय स्वस्वरूप में लीन होकर समतारस का पान करता है और अन्त में मोक्षसुख प्राप्त करता है।

छन्द - २

अनित्य संयोगों में नित्यता के भ्रम से व्यामोहित जीव को, संयोगों की क्षणभङ्गरता का परिचय देनेवाली यह अनित्य भावना है –

जोवन धन गोधन नारी, हय गय जन आग्याकारी।
इन्द्रिय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई॥

भावार्थ - यौवन, धन-सम्पत्ति, मकान, गाय-भैंस, स्त्री, घोड़ा-हाथी, कुटुम्बीजन, नौकर-चाकर तथा पाँच इन्द्रियों के विषय — ये सर्व वस्तुएँ क्षणिक हैं, अनित्य हैं, नाशवान हैं। जिस प्रकार इन्द्रधनुष और बिजली देखते ही देखते विलीन हो जाते हैं; उसी प्रकार ये यौवनादि कुछ ही काल में विनष्ट हो जाते हैं। ये कोई भी पदार्थ नित्य और स्थायी नहीं हैं किन्तु निज शुद्धात्मा ही नित्य और स्थायी है। — **स्वान्मुखतापूर्वक ऐसा चिन्तवन करके सम्यग्दृष्टि जीव, वीतरागता की वृद्धि करता है, यह अनित्य भावना है।** मिथ्यादृष्टि जीव को वास्तव में अनित्यादि एक भी भावना नहीं होती।

छन्द - ४

इस जगत में मरण से बचाने में कोई शरण नहीं है – इस भाव को दर्शानेवाली अशरण भावना है –

सुर असुर खगाधिप जेते, जों मृग हरि काल दले ते।
मणि मन्त्र तन्त्र बहु होई, मरते न बचावै कोई॥

भावार्थ – जिस प्रकार हिरण को सिंह मार डालता है; उसी प्रकार इस संसार में जो-जो देवेन्द्र, असुरेन्द्र, खगेन्द्र अर्थात् पक्षियों के राजा इत्यादि हैं, उन सबका काल अर्थात् मृत्यु नाश करती है। चिन्तामणि आदि मणि, मन्त्र और जन्त्र -तन्त्रादि कोई भी मृत्यु से नहीं बचा सकते।

- यहाँ ऐसा समझना कि निज आत्मा ही शरण है; उनके अतिरिक्त अन्य कोई भी शरण नहीं है। कोई जीव अन्य जीव की रक्षा कर सकने में समर्थ नहीं है; इसलिए पर से रक्षा की आशा करना व्यर्थ है।

- सर्वत्र -सदैव एक निज आत्मा ही अपना शरण है। आत्मा निश्चय से मरता ही नहीं, क्योंकि वह अनादि-अनन्त है। **स्वान्मुखतापूर्वक ऐसा चिन्तवन करके सम्यग्दृष्टि जीव, वीतरागता की वृद्धि करता है, यह अशरण भावना है।**

छन्द - ५

संसार भावना, संसार की असारता दर्शानेवाली है –

चहु गति दुःख जीव भरै हैं, परवर्तन पंच करै हैं।
सब विधि संसार असारा, जामें सुख नाहि लगारा॥

☆ **भावार्थ** – जीव की अशुद्धपर्याय ही संसार है। अज्ञान के कारण जीव, चार गति में दुःख भोगता है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भावरूप पाँच परावर्तन करता रहता है किन्तु कभी शान्ति प्राप्त नहीं करता; इसलिए वास्तव में संसारभाव सर्व प्रकार से साररहित है, उसमें किञ्चित्मात्र सुख नहीं है।

☆ अज्ञानी जीव के द्वारा जिस प्रकार सुख की कल्पना की जाती है, वैसा सुख का स्वरूप ही नहीं है। जिसमें अज्ञानी जीव सुख मानता है, वह वास्तव में सुख नहीं है, वह तो परद्रव्य के आलम्बनरूप मलिनभाव होने से आकुलता उत्पन्न करनेवाला दुःखरूप भाव है।

☆ निज आत्मा ही सुखमय है, उसके ध्रुवस्वभाव में संसार है ही नहीं। स्वान्मुखतापूर्वक ऐसा चिन्तवन करके सम्यग्दृष्टि जीव, वीतरागता में वृद्धि

छन्द – ६

जीव अकेला ही सुख-दुःख भोगता है – इस भाव को अभिव्यक्त करनेवाली एकत्व भावना है –

सुभ असुभ कर्मफल जेतें, भोगे जिय एकहि ते ते।
सुत दारा होइ न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी॥

भावार्थ – जीव का सदा अपने स्वरूप से एकत्व और पर से विभक्तपना है; इसलिए वह स्वयं ही अपना हित अथवा अहित कर सकता है, पर का कुछ नहीं कर सकता; अत: जीव जो भी शुभ या अशुभभाव करता है, उनका आकुलतारूपी फल वह स्वयं अकेला ही भोगता है। उसमें अन्य कोई स्त्री, पुत्र, मित्रादि सहायक नहीं हो सकते, क्योंकि वे सब परपदार्थ हैं।

वे सब पदार्थ, जीव को ज्ञेयमात्र हैं; इसलिए वे वास्तव में जीव के सगे -सम्बन्धी हैं ही नहीं, तथापि अज्ञानी जीव उन्हें अपना मानकर दु:खी होता है। पर के द्वारा अपना भला-बुरा होना मानकर, पर के साथ कर्तृत्त्व-ममत्व का अधिकार मानता है; इस प्रकार वह अपनी भूल से अकेला ही दु:खी होता है।

संसार और मोक्ष में यह जीव अकेला ही है — ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि जीव, निज शुद्ध आत्मा के साथ ही सदैव अपना एकत्व मानकर, अपनी निश्चयपरिणति द्वारा शुद्ध एकत्व की वृद्धि करता है, यह एकत्व भावना है।

छन्द - ७

पर से पृथक्ता की बोध प्रदाता अन्यत्व भावना है –

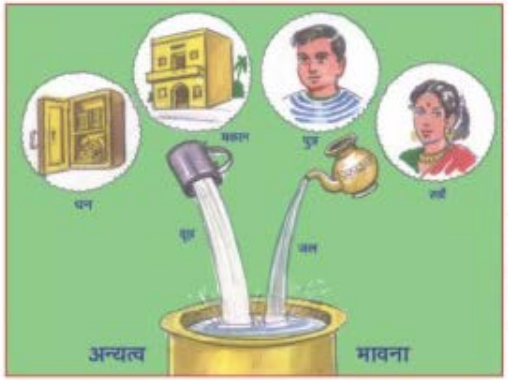

जल-पय जौं जिय-तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहीं भेला।
तो प्रघट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुत रामा॥

भावार्थ – जिस प्रकार दूध और पानी एक आकाशक्षेत्र में मिले हुए हैं परन्तु अपने-अपने गुण आदि की अपेक्षा से दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं; उसी प्रकार यह जीव और शरीर भी मिले हुए अर्थात् एकाकार दिखायी देते हैं, तथापि दोनों अपने-अपने स्वरूपादि की अपेक्षा से अर्थात् स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं, तो फिर प्रगटरूप से भिन्न दिखायी देनेवाले मोटर-गाड़ी, धन, मकान, बाग, पुत्र -पुत्री, स्त्री आदि अपने साथ एकमेक कैसे हो सकते हैं ? **तात्पर्य यह है कि स्त्री-पुत्रादि कोई भी परवस्तु अपनी नहीं है — इस प्रकार सर्व पदार्थों को अपने से भिन्न जानकर, स्वसन्मुखतापूर्वक सम्यग्दृष्टि जीव, वीतरागता की वृद्धि करता है, यह अन्यत्व भावना है।**

छन्द - ८

देह के अत्यन्त मलिन स्वरूप का परिचय करानेवाली अशुचि भावना है –

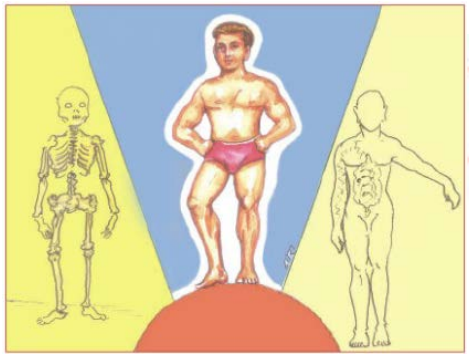

पल-रुधिर राधि-मल थैली, कीकस वसादि तें मैली।
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करे किमि यारी॥

भावार्थ – यह शरीर तो माँस, रक्त, पीव, विष्टा आदि की थैली है और हड्डियाँ, चरबी आदि से भरा होने के कारण अपवित्र है तथा इसके नौ द्वारों से मैल निरन्तर बाहर निकलता रहता है। ऐसे शरीर के प्रति मोह-राग कैसे किया जा सकता है? यह शरीर ऊपर से मक्खी के पंख के समान पतली चमड़ी से मढ़ा हुआ है; इसलिए बाहर से तो सुन्दर लगता है किन्तु यदि उसकी भीतरी स्थिति का विचार किया जाए तो उसमें अति अपवित्र वस्तुएँ भरी हैं; इसलिए उसमें ममत्व, अहङ्कार या राग करना व्यर्थ है।

- यहाँ शरीर को मलिन बतलाने का आशय भेदज्ञान के द्वारा शरीर के स्वरूप का ज्ञान कराते हुए, अविनाशी निज आत्मस्वभावरूप पवित्रपद में रुचि कराना है; शरीर के प्रति द्वेषभाव उत्पन्न कराने का आशय नहीं है।

- **शरीर तो उसके अपने स्वभाव से ही अशुचिमय है और भगवान आत्मा निजस्वभाव से ही शुद्ध एवं सदा शुचिमय पवित्र चैतन्य पदार्थ है; इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव, निज शुद्ध आत्मा की सन्मुखता द्वारा अपनी पर्याय में शुचिता की अर्थात् पवित्रता की वृद्धि करता है, यह अशुचि भावना है।**

छन्द - १

आस्रव का दुःखमयपना दर्शाकर, उससे उदासीनता जगानेवाली आस्रव भावना है –

जो जोगनि की चपलाई, तातें आस्रव ह्वै भाई।
आस्रव दुःखकार घनेरा, बुधवन्त तिनें निरवेरा॥

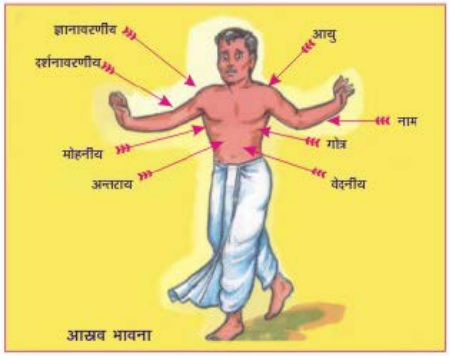

भावार्थ - जीव में शुभाशुभभावरूप विकारी अरूपीदशा होती है, वह भावआस्रव है और उस समय नवीन कर्मयोग्य रजकणों का स्वयं-स्वतः आना अर्थात् आत्मा के साथ एक क्षेत्र में आगमन होना, वह द्रव्यआस्रव है, उसमें जीव की अशुद्ध पर्याय निमित्तमात्र है।

पुण्य-पाप भी आस्रव और बन्ध के भेद हैं।

सरागी जीव को होनेवाला दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत आदि का शुभराग अर्थात् अरूपी शुभभाव, **भावपुण्य** है तथा उस समय नवीन कर्मयोग्य रजकणों का स्वयं-स्वत: आना अर्थात् आत्मा के साथ एक क्षेत्र में आगमन होना, **द्रव्यपुण्य** है।

हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि अशुभराग, **भावपाप** है तथा उस समय कर्मयोग्य पुद्गलों का आगमन होना, **द्रव्यपाप** है।

परमार्थ से पुण्य-पाप अर्थात् शुभाशुभभाव, आत्मा को अहितकर हैं तथा वह आत्मा की क्षणिक अशुद्धअवस्था है। द्रव्यपुण्य-पाप तो परवस्तु है; वह आत्मा का हित-अहित नहीं कर सकता — ऐसा यथार्थ निर्णय प्रत्येक ज्ञानी जीव को होता है। इस प्रकार विचार करके सम्यग्दृष्टि जीव, स्वद्रव्य के अवलम्बन के बल से जितने अंश में आस्रवभाव को दूर करता है, उतने अंश में उसे वीतरागता की वृद्धि होती है, यह आस्रव भावना है।

छन्द - १०

सुख की उत्पत्ति अर्थात् संवर का स्वरूप दर्शाकर, उसके प्रति पुरुषार्थप्रेरक संवर भावना है –

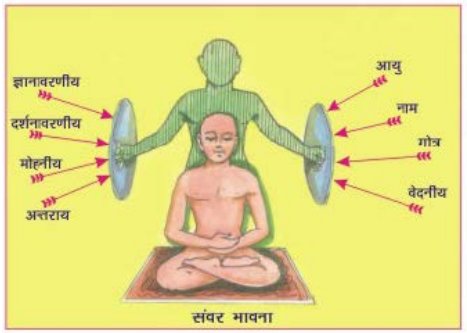

संवर भावना

जिन पुन्य-पाप नहीं कीना, आतम अनुभौ चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोकै, संवर गहि सुख अवलोके॥

भावार्थ – आस्रव का रोकना, सो संवर है। सम्यग्दर्शनादि द्वारा मिथ्यात्वादि आस्रव रुकते हैं। शुभोपयोग और अशुभोपयोग, दोनों बन्ध के कारण हैं — ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव पहले से ही जानता है। यद्यपि साधक को निचली भूमिका में शुद्धता के साथ अल्प शुभाशुभभाव होते हैं किन्तु वह दोनों को बन्ध का कारण मानता है; **इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव, स्वद्रव्य के आलम्बन द्वारा जितने अंश में शुद्धता प्रगट करता है, उतने अंश में उसे संवर होता है और वह क्रमशः शुद्धता में वृद्धि करते हुए पूर्ण शुद्धता प्राप्त करता है, यह संवर भावना है।**

छन्द - ११

मोक्षसुख का दर्शन करानेवाली निर्जरा भावना है –

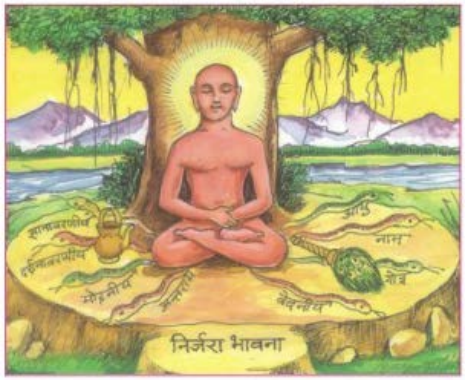

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना।
जो तप करि कर्म खिपावै, सोई सिवसुख दरसावै॥

भावार्थ – अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने पर कर्मों का खिर जाना तो प्रति समय अज्ञानी को भी होता है, वह कहीं शुद्धि का कारण नहीं होता, परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा अर्थात् आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा जो कर्म खिर जाते हैं, वह अविपाक अथवा सकाम निर्जरा कहलाती है। तदनुसार जब शुद्धि की वृद्धि होते-होते सम्पूर्ण निर्जरा होती है, तब जीव शिवसुख अर्थात् सुख की पूर्णतारूप मोक्ष प्राप्त करता है — **ऐसा जानता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव, स्वद्रव्य के आलम्बन द्वारा शुद्धि की वृद्धि करता है, यह निर्जरा भावना है।**

छन्द - १२

लोक की अनादि-निधनता की प्रतिपादक लोक भावना है –

किनहूं न करौ न धरै को, षट् द्रव्यमयी न हरै को।
सो लोकमाहि बिनु समता, दुःख सहै जीव नित भ्रमता॥

भावार्थ – ब्रह्मा आदि किसी ने इस लोक को बनाया नहीं है; विष्णु या शेषनाग आदि किसी ने इसे टिका नहीं रखा है तथा महादेव आदि किसी से यह नष्ट नहीं होता। यह छह द्रव्यमय लोक, स्वयं स्वतः ही अनादि-अनन्त है; छहों द्रव्य नित्य स्व-स्वरूप से स्थित रहकर, निरन्तर अपनी नयी-नयी पर्यायों अर्थात् अवस्थाओं से उत्पाद-व्ययरूप परिणमन करते रहते हैं। एक द्रव्य के परिणमन में दूसरे द्रव्य का रञ्चमात्र भी अधिकार नहीं है।

यह छह द्रव्यस्वरूप लोक, मेरा स्वरूप नहीं है; मुझसे त्रिकाल भिन्न है, मैं उससे भिन्न हूँ; मेरा शाश्वत चैतन्यलोक ही मेरा स्वरूप है — ऐसा धर्मी जीव विचार करता है और स्वान्मुखता द्वारा विषमता मिटाकर, साम्यभाव-वीतरागभाव बढ़ाने का अभ्यास करता है, यह लोक भावना

छन्द - १३

सम्यग्ज्ञान की दुर्लभता दर्शानेवाली बोधिदुर्लभ भावना है –

अंतिम-ग्रीवक लौ की हद, पायौ अनन्त विरियाँ पद;
पै सम्यक्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निज में मुनि साधौ॥

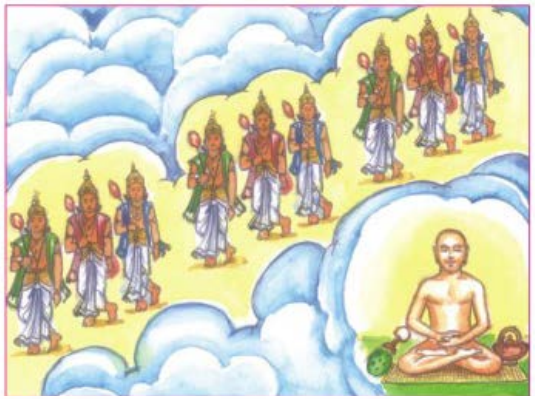

भावार्थ – मिथ्यादृष्टि जीव, मन्दकषाय के कारण अनेक बार नौवें ग्रैवेयक तक उत्पन्न होकर अहमिन्द्रपद को प्राप्त हुआ, परन्तु उसने एक बार भी सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं किया, क्योंकि सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना अपूर्व है। उसे तो स्वोन्मुखता के अनन्त पुरुषार्थ द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और ऐसा होने पर विपरीत अभिप्राय आदि दोषों का अभाव होता है।

- सम्यग्दर्शन-ज्ञान, आत्मा के आश्रय से ही होते हैं; पुण्य से, शुभराग से, जड़ कर्मादि से नहीं होते। इस जीव ने बाह्य संयोग, चारों गति के लौकिकपद अनन्त बार प्राप्त किये हैं किन्तु निज आत्मा का यथार्थ स्वरूप स्वानुभव द्वारा प्रत्यक्ष करके कभी नहीं समझा, इसलिए उसकी प्राप्ति अपूर्व है।

- बोधि अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता; उस बोधि की प्राप्ति प्रत्येक जीव को करना चाहिए। **सम्यग्दृष्टि जीव, स्वसन्मुखतापूर्वक ऐसा चिन्तवन करता है और अपनी बोधि की वृद्धि का बारम्बार अभ्यास करता है, यह बोधिदुर्लभ भावना है।**

छन्द - १४

अनन्त सुख के कारणभूत धर्म के स्वरूप का परिचय एवं प्रेरणा प्रदायक धर्म भावना है –

जे भाव मोह तें न्यारे, दृग-ज्ञान-व्रतादिक सारे।
ते धर्म जबै जिय धारे, तब ही सुख अचल निहारे॥

भावार्थ - मोह अर्थात् मिथ्यादर्शन / अतत्त्वश्रद्धान; उससे रहित निश्चयसम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अर्थात् रत्नत्रय ही साररूप धर्म है। व्यवहाररत्नत्रय धर्म नहीं है — ऐसा बतलाने के लिए यहाँ छन्द में '**सारे**' शब्द का प्रयोग किया है।

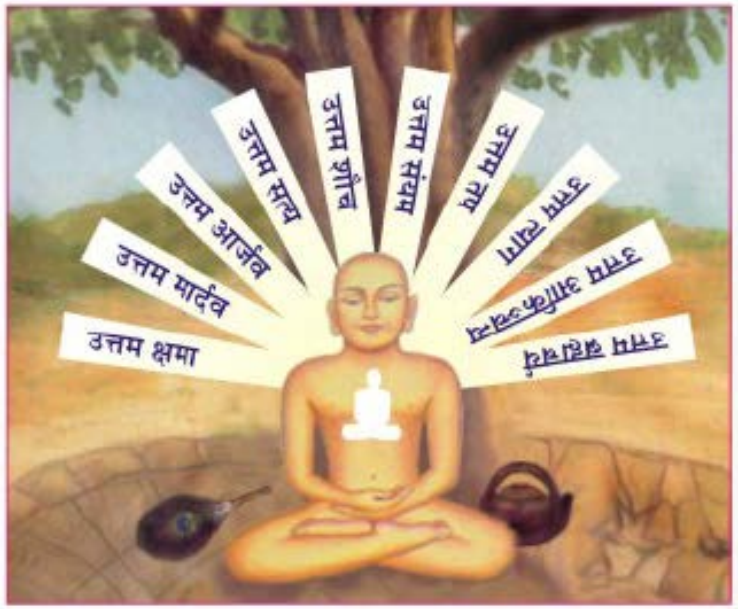

जब यह जीव, निश्चयरत्नत्रयस्वरूप धर्म को स्वाश्रय द्वारा प्रगट करता है, तभी वह स्थिर, अक्षयसुख अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है। **इस प्रकार चिन्तवन करके सम्यग्दृष्टि जीव, बारम्बार स्वान्मुखता का अभ्यास करता है, यह धर्म भावना है।**

छन्द - १५

ग्रन्थकार कविवर पण्डित दौलतरामजी, आगामी अन्तिम ढाल में मुनिधर्म का निरूपण करने की प्रतिज्ञा करते हैं –

सो धर्म मुनिन कर धरियै, तिनकी करतूति उचरियै।
ताकौं सुनि कैं भव प्राणी, अपनी अनुभूति पिछानी॥

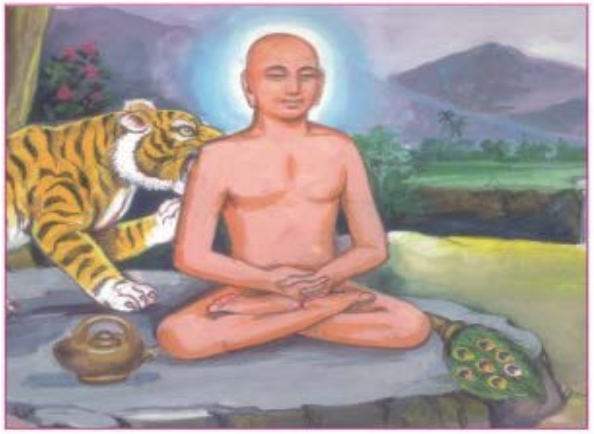

भावार्थ – निश्चयरत्नत्रयस्वरूप धर्म को भावलिङ्गी दिगम्बर जैन मुनि ही अङ्गीकार करते हैं; अन्य कोई नहीं।

CONTACT INFORMATION

Email- jainsaurabhjain15@gmail.com

Email-dparihantsaurabh@yahoo.co.in

U.S. contact
Email-jainadhyatma@gmail.com

Email-rajnigosalia@hotmail.com